समानुभूति

२४ जून, २०२२ के लिए

अमी बन्सल और गरिमा बोरवणकर द्वारा लिखित व्याख्या

भाग ७

भाग ६ में हमने, अमी और गरिमा ने, २४ जून, २०२२ को श्रीगुरुमाई द्वारा प्रदान किए गए सद्‌गुण, समानुभूति में निहित सौम्यता [मृदुलता] के गुण के बारे में लिखा था। यह समानुभूति के सद्‌गुण के पाँचवें पहलू के सन्दर्भ में था जिसका उल्लेख हमने व्याख्या के आरम्भ में ही किया था :

> **दूसरों को आँके बिना, उनके बारे में कोई मत या राय बनाए बिना उन्हें मृदुलता से प्रतिक्रिया देना समानुभूति है।**

पिछले भाग में हमने बात की थी कि किस प्रकार सौम्यता का गुण हम सबमें अन्तर्जात है और एक बार जब हम स्वयं को अपनी सौम्यता के साथ दोबारा परिचित कर लेते हैं और लगातार उसके साथ जुड़े रहने का अभ्यास करते हैं, तो अन्ततः यह एक बार पुनः हमारा स्वभाव बन सकता है। हम सहजता से इस तक पहुँच सकते हैं और दूसरों को प्रतिक्रिया देते समय अपने व्यवहार में इसे प्रतिबिम्बित कर सकते हैं।

किसी व्यक्ति अथवा परिस्थिति को न आँकना या उसके बारे में अपनी राय न बनाना यानी ग़ैर आलोचनात्मक होना, सौम्यता [मृदुलता] से भिन्न है। ये दोनों इस रूप में भिन्न हैं कि ग़ैर आलोचनात्मक होने के गुण को अपने कार्यों में प्रतिबिम्बित करने के लिए हमें अकसर अधिक प्रयत्न करने की ज़रूरत होती है। मृदुलता या सौम्यता हमारी सहज प्रवृत्ति हो सकती है, परन्तु ग़ैर आलोचनात्मक होना हमारी सहज प्रवृत्ति नहीं है। ग़ैर आलोचनात्मक होने का अभ्यास करने के लिए हमें अपनी आदतों, मतों व पूर्वाग्रहों के प्रति सचेत रहना ज़रूरी होता है और अपनी बुद्धि का उपयोग कर प्रश्न करने होते हैं व आकलन करना होता है कि ये हमारे लिए सचमुच हितकर हैं अथवा नहीं।

ग़ैर आलोचनात्मक होने के गुण और समानुभूति के साथ इसके सम्बन्ध के विषय में हमने भाग चार में, पहले बात की थी। उस समय हमने ग़ैर आलोचनात्मक होने को विशेष तौर पर इस परिप्रेक्ष्य से देखा था कि श्रीगुरुमाई करुणा के बारे में किस प्रकार सिखाती हैं जो कि समानुभूति का एक और गुण है।

अब हम ग़ैर आलोचनात्मक होने के अपने अन्वेषण को आगे बढ़ाते हैं और इसके बारे में अपनी समझ व ज्ञान को विकसित करते हैं।

कई बार, यह समझने के लिए कि कोई वस्तु क्या *है,* यह समझना सहायक होता है कि वह क्या *नहीं है।* और कभी-कभी, यह समझने के लिए कि कोई वस्तु क्या *नहीं है,* यह समझना सहायक होता है कि वह क्या *है।*

परन्तु जब बात आती है ग़ैर आलोचनात्मक होने के गुण की तो चीज़ें और भी दिलचस्प हो जाती हैं। शाब्दिक तौर पर, 'ग़ैर आलोचनात्मक' के दो भाग हैं—पहला शब्द 'ग़ैर' [जिसका अर्थ है 'न होना,' 'के बिना या रहित होना' या 'विपरीत होना' जो इस बात पर निर्भर है कि किस शब्द के साथ जोड़कर इसका प्रयोग किया गया है] और दूसरा शब्द है, मूल शब्द 'आलोचना।' तथापि जब आप इन दो भागों को एक-साथ मिलाते हैं तब जो शब्द बनता है, वह है 'ग़ैर आलोचनात्मक होना' जिसका अर्थ व सन्दर्भ मात्र 'आलोचनात्मकता के अभाव' से भिन्न है।

फिर भी, यह समझ लेना उपयोगी है कि ये दो शब्द—'आलोचनात्मक होना' और 'ग़ैर आलोचनात्मक होना'—एक-दूसरे से किस प्रकार जुड़े हुए हैं।

आइए, संस्कृत और हिन्दी भाषाओं से सन्दर्भ लेते हुए आरम्भ करते हैं जहाँ 'आलोचना' शब्द के समानान्तर या उससे सम्बन्धित शब्दों की कमी नहीं है। इनमें शामिल हैं, 'निर्णय' [फ़ैसला], 'विवेक' [समझदारी, बुद्धिमानी], 'निश्चय' [दृढ़ संकल्प], 'विवेचन' [समझदारी भरी समीक्षा, मूल्यांकन और परीक्षण—जो अकसर आपसी चर्चा द्वारा किए जाते हैं], 'विचारण-शक्ति' [सोचने-समझने व तर्क करने की क्षमता], 'प्रज्ञा', 'बुद्धि' व 'समझ'।

रोचक बात यह है कि संस्कृत और हिन्दी भाषाओं में प्रयुक्त इन विभिन्न शब्दों में से एक का भी आशय यह नहीं है कि 'आलोचना' शब्द अपने आप में नकारात्मक है। बल्कि, इनमें से कुछ शब्दों के तो सकारात्मक अर्थ व सन्दर्भ हैं! अंग्रेज़ी भाषा में इसके लिए शब्द है *judgment* [जज्‌मॅन्ट] और इस शब्द के अर्थ व सन्दर्भ अधिकांशतः अच्छाई या अनुकूलता को ही दर्शाते हैं। उदाहरणार्थ, इसके अर्थ हो सकते हैं, मूल्यांकन, आकलन और विवेकबुद्धि। तथापि, चूँकि 'आलोचना' इस शब्द का प्रयोग प्रायः इन अर्थों को ध्यान में रखकर नहीं किया जाता, इसलिए यह एक आम मान्यता बन गई है कि इसका अर्थ नकारात्मक ही है। यदि हम कहें कि कोई व्यक्ति हमारी आलोचना कर रहा है तो आम तौर पर हमारे

कहने का अर्थ यह नहीं होता कि वह हमारे बारे में बहुत अच्छा सोच रहा है या हमारे ऊपर तारीफ़ों की बौछार कर रहा है।

तथापि, अपने आप में 'आलोचना' यह शब्द सोच-विचार की उस प्रक्रिया को दर्शाता है जिसके माध्यम से हम किसी व्यक्ति या परिस्थिति के विषय में अपने ज्ञान व समझ के आधार पर उस व्यक्ति या परिस्थिति के बारे में निष्कर्ष तक पहुँचते हैं। इतना ही नहीं, सोच-विचार की यह प्रक्रिया ऐसी है कि हम *सभी* इसमें लगे रहते हैं, *हर समय* इसमें लगे रहते हैं। अपने रोज़मर्रा का जीवन जीते हुए हमें लगातार विवेकशील रहना होता है, मूल्यांकन करना होता है, जाँचना-परखना होता है और समझदारी व विवेकबुद्धि को अपनाना होता है। उदाहरण के लिए, हो सकता है हम कहें, "हमेशा यह शिकायत करते रहने के बजाय कि मेरा ध्यान अच्छा नहीं लगता, मैंने ध्यान-रिट्रीट में भाग लेने का निर्णय लिया।" या, "दोस्तों के साथ घूमने जाने के स्थान पर मैंने अपने दादा-दादी से मिलने जाने का चुनाव किया।" या, "जो ज्ञान मैंने पाया है उसे अन्य लोगों के साथ साझा करने के महत्त्व के बारे में मैं जानती थी, ताकि ऐसा करने से उनका जीवन बेहतर हो सके।"

जैसा कि आप देख सकते हैं कि हम जो आलोचनाएँ करते हैं वे सरल भी हो सकती हैं या जटिल भी। आलोचना करना हमारी बुद्धि का स्वाभाविक कार्य है [संस्कृत व हिन्दी, दोनों भाषाओं में बुद्धि के कई अर्थों में 'आलोचना' भी एक अर्थ है जो कि संयोग नहीं है]। इस व्याख्या के भाग ५ में हमने समझाया था कि अपने संसार को समझने व उसमें कुशलतापूर्वक कार्य करने के लिए किस प्रकार हम अपनी बुद्धि का उपयोग करते हैं। जो चीज़ें हमारे सामने आती हैं, उन्हें समझने के लिए, मन में उठने वाले विचारों का विश्लेषण करने के लिए और उन आन्तरिक व बाहरी संवेगों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया कैसी हो इसे निर्धारित करने के लिए हम बुद्धि का उपयोग करते हैं।

और ऐसा नहीं है कि केवल मनुष्य ही इस प्रकार की विश्लेषण-प्रक्रिया में संलग्न होते हैं। पशु-पक्षी और पौधे भी अलग-अलग तरह से इस प्रकार की संज्ञानात्मक क्षमता का परिचय देते हैं, विशेषकर तब, जब वे अपने प्राणों की सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए निर्णय लेते हैं। उदाहरण के लिए, सूरजमुखी का फूल प्रकाश के लिए सूर्य की ओर मुड़ जाता है। एक वृक्ष की जड़ें पानी की खोज में धरती के अन्दर गहरे चली जाती हैं और बाहर की ओर फैल जाती हैं। एक गिरगिट शिकार पकड़ने के लिए या अन्य भक्षक जीवों से छिपने के लिए अपनी त्वचा का रंग बदल लेता है जिससे वह आस-पास के रंगों जैसा ही दिखने लगे।

कुछ स्तनधारी जीवों में और भी अधिक विकसित संज्ञानात्मक क्षमता होती है। डॉलफ़िन मछलियाँ आपस में सम्पर्क स्थापित करने के लिए अलग-अलग तरह की आवाज़ें निकालती हैं; जैसे कि कुछ आवाज़ें नामों की तरह होती हैं और उस समूह में अन्य डॉलफ़िन्स् को बुलाने का कार्य करती हैं। सूअर इंसानों की बोल-चाल के शब्द और इशारे समझते हैं। और व्यापक शोधकार्य ने यह सिद्ध किया है कि चिपान्ज़ी और हाथी, दोनों के पास सशक्त स्मरणशक्ति और उन्नत बुद्धिक्षमता होती है।

मानव, इस धरती पर वास करने वाला सर्वाधिक विकसित जीव है जिसे आश्चर्यजनक रूप से परिष्कृत व सशक्त निर्णय-क्षमता प्रदान की गई है। और तो और, वैज्ञानिकों ने यह भी खोज निकाला है कि मानव-मस्तिष्क में सतत सीखते रहने, बदलाव लाने और परिस्थिति के अनुसार ढलने की प्रचण्ड सामर्थ्य है। हमारे अन्दर नए ज्ञान को ग्रहण करने व आत्मसात् करने की क्षमता है, हमारे अन्दर किसी विषय या परिस्थिति के अलग-अलग दृष्टिकोणों को समझने व उन्हें याद रखने की क्षमता है, हमारे अन्दर अपने दृष्टिकोण को बदलने और विस्तृत करने की क्षमता है, और हमारे अन्दर वह क्षमता है जिससे हम छोटे-बड़े चुनाव कर सकते हैं जो कि हमारे व्यवहार में गहन रूपान्तरण ला सकते हैं।

अब, हम ऐसा *करते हैं* या नहीं यह सर्वथा एक अलग ही विषय है। बड़े होते-होते और जीवन का रास्ता तय करते हुए, संसार के बारे में—और अपने ख़ुद के बारे में—हमारे दृष्टिकोण तय हो जाते हैं और यहाँ तक कि बेहद कठोर व सख़्त भी हो सकते हैं। हो सकता है कि अपने व्यक्तित्व और यहाँ तक कि अपने गुणों व स्वभाव के बारे में हमारा एक स्थाई विचार बन जाए। हम अपनी कमियों, अपने दोषों के सामने हार मान लेते हैं। हम कहते हैं, "क्या करूँ? ऐसा ही हूँ मैं।" और यही विचार हम व्यक्त करते हैं। "*वे* तो बस ऐसे ही हैं।" "दुनिया ऐसे ही चलती है।" जब हम इस तरह से सोचते हैं तब हम वास्तव में अपने स्वभाव के विषय में या किसी चीज़ या परिस्थिति को देखने के किसी अन्य तरीक़े के बारे में सोचने से इनकार कर रहे होते हैं। हम इस सम्भावना को नकार रहे होते हैं कि कोई अन्य या अधिक विस्तृत वास्तविकता भी हो सकती है। और हम बदलने, बढ़ने तथा विकसित होने की मस्तिष्क की जो सामर्थ्य है, उसका लाभ नहीं उठाते।

इससे हमें यह संकेत मिलता है कि 'आलोचना' जोकि वैसे तो मन का निष्पक्ष—और अत्यन्त मूल्यवान—कार्य है, परन्तु कैसे यह नकारात्मकता के साथ जुड़ गया है।

अधिक जानने के लिए, आइए हम बुद्धि के विषय में और गहरे उतरते हैं। आपको याद होगा कि हमने बुद्धि के बारे में पहली बार भाग ५ में बात की थी जहाँ हमने बुद्धि को 'अन्तःकरण चतुष्टय' के एक भाग के रूप में समझाया था। 'अन्तःकरण चतुष्टय' का एक और भाग है 'चित्त' या अवचेतन मन जो हमारी स्मृतियों और पूर्वसंस्कारों को संचित रखता है। ये संस्कार जिन कारणों से बनते हैं उनमें से कुछ हैं, वे परिस्थितियाँ जिनमें हम पले-बढ़े हैं, हमारी शिक्षा, जिन-जिन चीज़ों में हमारी आस्था है, हमारे समाज या संस्कृति के मानदण्ड, हमारे व्यक्तिगत उसूल और वे नैतिक सिद्धान्त जिनके अनुसार हम जीवन जीते हैं, जीवन से प्राप्त हमारे अनुभव और उन अनुभवों से निकाले गए हमारे निष्कर्ष।

वे पूर्वसंस्कार भी होते हैं जो हम इस जन्म में अपने साथ लाए हैं। आदि शंकराचार्य जो वेदान्तदर्शन के एक मुख्य प्रतिपादक हैं, अपनी रचना 'प्रबोधसुधाकर' में इस सिद्धान्त को समझाते हैं।

आदि शंकराचार्य कहते हैं :

> तत्कारणं स्मृतं यत्तस्यान्तर्वासनाजालम्।
>
> कारण शरीर में समस्त पूर्वसंस्कारों का, वासनाओं का घना जाल है।[१]

कारण शरीर, हमारी चेतना का एक सूक्ष्म शरीर है। इसमें हमारे समस्त पूर्वकर्मों व अनुभवों के सुप्त संस्कार संचित रहते हैं जिन्हें साथ लेकर हमने इस संसार में जन्म लिया था। ये सुप्त संस्कार चित्त यानि अवचेतन मन की सतह पर आ सकते हैं जो हमारे *इस* जन्म की स्मृतियों को भी संचित करता है; और ये सभी संस्कार वर्तमान में संसार के प्रति हमारे दृष्टिकोण को रँग देते हैं।

चित्त और बुद्धि सदैव एक-साथ कार्य करते हैं। बुद्धि हमारे चित्त में संचित जानकारी को समझकर उसका अर्थ निकालती है और निर्णय लेने के लिए उसका उपयोग करती है। अतः, वह जानकारी कैसी है—वह अचूक व शुद्ध है या दोषयुक्त है—इस बात का बड़ा महत्त्व होता है व इसका असीम प्रभाव होता है। और इन सबके अनुसार हम जो चुनाव करते हैं, वे हमारी वास्तविकता को आकार देते हैं।

वेदान्त 'रज्जु-सर्प-भ्रान्ति' का एक उत्तम उदारहण प्रस्तुत करता है। 'रज्जु' अर्थात् रस्सी और 'सर्प' अर्थात् साँप। 'भ्रान्ति' शब्द के कई अर्थ हैं, जिसमें शामिल हैं, 'भ्रम', 'ग़लतफ़हमी या मिथ्या', 'आभास', 'झूठा तर्क' और 'ग़लत समझ या विकृत दृष्टिकोण'।

अपनी पुस्तक *The Yoga of Discipline* में 'रज्जु-सर्प-भ्रान्ति' की कहानी द्वारा श्रीगुरुमाई हमें वेदान्त के इस सिद्धान्त का ज्ञान प्रदान करती हैं। हमें अनुमति दें कि हम गुरुमाई जी द्वारा पुनः कथित उस सुन्दर कहानी को यहाँ प्रस्तुत करें।

> एक रात, जंघू नाम का एक व्यक्ति गाँव की गली में टहलने गया। वह यूँ ही कुछ सोचते हुए, इस बात की कल्पना करते हुए चला जा रहा था कि वह भविष्य में क्या करेगा। अचानक वह डर के मारे उछल पड़ा। रास्ते से कुछ ही दूरी पर उसे एक बहुत बड़ा साँप रेंगता हुआ दिखाई पड़ा। जब उस साँप ने जंघू को देखा तो वह जम-सा गया। सच में, वह साँप बिना हिले-डुले बिलकुल तैयार बैठा था कि कब झपटकर बेचारे जंघू को डस ले।
>
> जंघू ने एक चीख़ मारी और मदद के लिए चिल्लाते हुए गाँव की ओर भागा। वह लोगों को उस दिशा में न जाने के लिए सावधान भी करता जा रहा था। एक-दो गाँववालों ने कहा कि वे लालटेन लेकर देखने जाएँगे कि साँप वास्तव में ज़हरीला है भी या नहीं।
>
> पर जंघू उनकी बात सुन ही नहीं रहा था। उसने गाँववालों को बताया कि उसे साँपों के बारे में सब पता है, और अगर वे वहाँ गए तो समझो मरे। उसे पक्का विश्वास था कि यह वही भयानक साँप है जिसके बारे में उसकी नानी बताया करती थीं। निश्चय ही यह वही साँप है जिसने न जाने कितने बच्चों को मार डाला था, खेतों में किसानों को डसा था और निर्दोष राहगीरों पर हमला किया था। साँप के बारे में वह जिस प्रकार वर्णन कर रहा था, वह हर क्षण और भी डरावना होता चला जा रहा था।
>
> फिर जंघू को एक और विचार सूझा। वह हीरो बनेगा! वह ख़ुद ही इस भयानक साँप को मारकर पूरे गाँव को बचा लेगा। वह तो कल्पना भी कर रहा था कि कैसे ज़ोर-ज़ोर-से घूँसे पर घूँसे मारते हुए वह ख़ुद ही साँप से निपट रहा है। अपने आपको हीरो बना हुआ देखकर, वह पूरे जोश में आ गया और अँधेरे में ही निकल पड़ा। चलते-चलते वह एक भारी-सी लकड़ी की तलाश भी करता जा रहा था जिससे वह साँप को पीट सके। एक पेड़ पर उसे वैसी ही डाल दिख गई जैसी वह चाहता था। उसने कसकर वह डाल पकड़ ली और उसे तोड़ने लगा। पर तभी वह ज़ोर-से चीख़ा और ज़मीन पर आ गिरा। असल में उसने जो डाल पकड़ रखी थी वह पेड़ की डाल थी ही नहीं। वह तो एक बड़ा-सा साँप था जिसने उस भावी हीरो को डस लिया था।

> इसी बीच, अन्य गाँववाले अपनी लालटेन लिए हुए, धीरे-धीरे उस पहले वाले साँप के नज़दीक बढ़ते जा रहे थे। अपनी चीख़ों से उसे डराते हुए, वे कोशिश कर रहे थे कि वह वापस झाड़ियों में चला जाए। पर वह हिला ही नहीं; टस से मस तक नहीं हुआ। आख़िरकार, वे सब उसके बिलकुल पास गए और उसे ख़ूब पीटने लगे। पर उधर से कोई प्रतिक्रिया ही नहीं हुई—क्योंकि वहाँ कोई साँप था ही नहीं। वह तो एक मोटी-सी रस्सी थी जिसे कोई सड़क पर डालकर भूल गया था।
>
> जंघू ने केवल *सोचा* था कि उसने साँप देखा है।[२]

जैसा कि यह कहानी स्पष्टता से दर्शाती है, हमारा चित्त जिसकी शुद्धि नहीं हुई है, उसमें संचित हुए संस्कारों का हमारी बुद्धि द्वारा की गई विभिन्न आलोचनाओं पर, या लिए गए निष्कर्षों पर घातक प्रभाव हो सकता है। इसके अतिरिक्त, वे संस्कार इतने प्रबल हो सकते हैं, उनकी पकड़ इतनी मज़बूत व गहरी हो सकती है कि वे वास्तव में हमारी देखने-समझने की शक्ति को, हमारी ज्ञानेन्द्रियों को धुँधला कर देते हैं। हम वही देखते हैं जो हम देखना चाहते हैं, जो देखने की हमें अपेक्षा है, जो हमने पहले से ही तय कर लिया है कि हम क्या देखेंगे—न कि वह जो *वास्तव में* है। इस तरह हम संसार को देखने के अपने उसी नज़रिए को सख़्त बनाते जाते हैं। ऐसे में, प्रतिक्रिया देने के लिए हम जो क़दम उठाते हैं, उनसे यदि अच्छा परिणाम हुआ तो यही होता है कि वे क़दम बिना सोच-विचार के उठाए गए होते हैं जिनमें दूरदर्शिता का अभाव होता है; और ख़राब परिणाम हुआ तो, वे हमारे लिए व अन्य सभी के लिए हानिकारक होते हैं।

***

हमने अभी-अभी विस्तार से देखा कि 'आलोचना' क्या है, और इससे हमने सटीक रूप से यह जाना कि 'ग़ैर आलोचनात्मक होना' क्या है। हमने पहले बताया था कि 'ग़ैर आलोचनात्मक होने' को मात्र 'आलोचनात्मकता का अभाव' नहीं कहा जा सकता। 'ग़ैर आलोचनात्मक होने' का अर्थ कुछ अलग है, अधिक गहरा है, इसमें और भी बारीकियाँ हैं।

आइए, अब देखते हैं कि ये बारीकियाँ विशिष्ट तौर पर क्या हैं।

सबसे पहले तो, 'ग़ैर आलोचनात्मक होना' यानी यह नहीं कि हम अपनी मूल्यांकन करने वाली व विश्लेषण करने वाली शक्तियों का उपयोग न करें जिनकी हमें जीवित रहने के लिए और संसार में अपना जीवन जीने के लिए आवश्यकता है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि किसी परिस्थिति या व्यक्ति

के प्रति 'दयालु बनने' या 'उसे स्वीकार करने' के लिए ऊपरी तौर पर किए गए प्रयास में, हम उस परिस्थिति की वास्तविकता को अनदेखा कर दें और अपनी आँखों पर पट्टी बाँध लें।

तो फिर 'ग़ैर आलोचनात्मक होना' क्या *है*? सिद्धयोग पथ पर हम यह सीखते हैं कि 'ग़ैर आलोचनात्मक होना' यानी जागरूकता के साथ वह प्रयत्न करना जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके कि इस संसार के बारे में और इसमें रहने वाले लोगों व वस्तुओं के बारे में हमारा विश्लेषण, चित्त में संचित अशुद्ध या मिथ्या संस्कारों से विकृत न हो। और इसके लिए अत्यावश्यक है, आध्यात्मिक साधना।

जब हम चित्त की शुद्धि करते हैं, जब हम अपने मन को आत्मज्ञान में निमग्न करते हैं, तब हम इस संसार को वैसा ही देखते हैं जैसा वह है—न कि वैसा जैसा कि हम उसे समझते हैं या चाहते हैं कि वह कैसा होना चाहिए। सिद्धयोग के श्रीगुरुओं ने हमें ऐसा करने के अनेक उपाय प्रदान किए हैं। और उनमें से एक उपाय है, 'साक्षी' बने रहने का अभ्यास—अपने विचारों, मनोभावों, शब्दों व कर्मों के 'साक्षी' बने रहने का अभ्यास।

जब हम साक्षी बने रहते हैं तो हम अपने दृष्टिकोण के प्रति जागरूक रहते हैं—संसार को और इसमें रहने वाले लोगों व इसकी परिस्थितियों को हम जिस दृष्टि से देखते हैं, उसके प्रति हम जागरूक रहते हैं। जब हम साक्षी बने रहते हैं तो हम संसार को तटस्थ भाव से, निष्पक्ष दृष्टि से वैसा ही देखते हैं जैसा वह *है*—हमारी दृष्टि हमारी धारणाओं, पूर्वाग्रहों व आलोचनाओं से रहित होती है। जब हम साक्षी बने रहते हैं तो हम अपने समक्ष जो कुछ भी या जो कोई भी होता है, उस पर तुरन्त किसी नाम या गुण का लेबल चिपकाने के स्थान पर, एक क़दम पीछे हटते हैं और यह देखते हैं कि हम उस व्यक्ति या परिस्थिति के बारे में अपनी राय बना रहे हैं, कि हम अपनी ही दृष्टि के अनुसार उसे आँक रहे हैं। जब हम थोड़ा ठहरकर साक्षीभाव से यह देखते हैं कि हमारे मन में क्या चल रहा है [चाहे हम पल भर के लिए ही ठहरें] तो हम प्रश्न पूछ सकते हैं कि जो हमें दिखाई दे रहा है वह क्या है। क्या यह एक निष्पक्ष सच्चाई है, जो किसी तथ्य पर आधारित है? या क्या यह हमारा अपना एक व्यक्तिगत दृष्टिकोण है, और कोई-न-कोई बहाने बनाकर, जैसे कि अपनी ही सन्देहवृत्ति के कारण; निराशावादिता, निरुत्साह के कारण; बुद्धि के प्रमाद के कारण; या अन्य वास्तविकताओं और सम्भावनाओं को मानने की अपनी अनिच्छा के कारण हमने अपने आपको उस व्यक्तिगत दृष्टिकोण पर विश्वास करने के लिए विवश कर लिया है? अपने मन के कार्य करने की प्रक्रिया के प्रति हम जितना अधिक सजग होते हैं, उतना ही अधिक हम यह समझ पाते हैं कि संसार के प्रति हमारा दृष्टिकोण काफ़ी हद तक हमारा अपना *चुनाव* होता है।

The Yoga of Discipline के उसी अध्याय में जिसमें गुरुमाई जी रस्सी और साँप की कहानी सुनाती हैं, वे साक्षीभाव का अभ्यास करने के महत्त्व के बारे में भी समझाती हैं।

श्रीगुरुमाई कहती हैं :

> दैनिक क्रियाकलाप करते हुए अपनी आँखों पर नज़र रखो। साक्षी बने रहो। ध्यान करो, जप करो, अपने हृदय में शुद्धतम व सुन्दरतम भावनाएँ जगने दो और इस प्रकार अपनी आँखों को बार-बार विश्राम दो। जब तुम किसी अन्य व्यक्ति को देखो तो उसे अपने आशीर्वाद दो। जब तुम कुछ होता देखो तो मदद के लिए, सहारे के लिए हाथ बढ़ाओ। ऊर्जा तुम्हारी आँखों से बड़े वेग-से बाहर की ओर बहती है, अतः साक्षी बने रहो। आँखों को अधिक से अधिक कल्याणकारी आशीर्वाद देने दो। ऐसा करने के लिए अपने हृदय को भी साक्षी की स्थिति में बनाए रखो।[३]

जिन आँखों के बारे में गुरुमाई जी यहाँ समझा रही हैं, वे मात्र भौतिक आँखें नहीं हैं; बल्कि इस विषय में है कि जो कुछ भी हम देख रहे हैं, उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या है, उसे देखने की हमारी दृष्टि कैसी है और हमारी समझ क्या है। जब हम स्वयं के व अपने आस-पास के संसार के साक्षी होने का अभ्यास करते हैं, तब हम अपनी दृष्टि को शुद्ध करते हैं और चीज़ों को स्पष्टता से देखने लगते हैं। और इसके फलस्वरूप हम उस परमसाक्षी के, अपनी अन्तरात्मा के सम्पर्क में आ जाते हैं, जो हमारे विचारों, वाणी, भावनाओं व कृत्यों को देख रहा है। और एक बार जब हम अन्तरस्थ आत्मा से जुड़ जाते हैं, तब हम दूसरों में भी आत्मा के दर्शन करने लगते हैं। इस अभ्यास से हमारे अन्दर 'सम' के बोध का विकास होने लगता है।

जब हमारी विवेकशक्ति 'सम' के प्रकाश से प्रदीप्त होती है तब हम जो आलोचना करते हैं उसमें अपमान या निन्दा का भाव नहीं होता, बल्कि वह 'आलोचना' साक्षीभाव से उदित होती है। 'आलोचना' के इस विशुद्ध रूप को 'विवेक' कहा जाता है।

भारतीय शास्त्रों में 'विवेक' का वर्णन भेद करने की उस सामर्थ्य के रूप में किया गया है जो आत्मा के अपरिवर्तनशील व नित्य स्वरूप के ज्ञान से उदित होती है। विवेकबुद्धि, वह बुद्धि है जो विवेक में दृढ़ प्रतिष्ठित है; वह बदलते रहने वाले तत्त्वों [जैसे कि, शिक्षा, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, जीवन की वर्तमान परिस्थिति या पूर्व में घटी घटनाओं या सामान्यतः हमारे मन की स्थिति] को ध्यान में रखते हुए उन पर सम्यक् विचार करती है और फिर, इस मूल, सनातन सत्य की दृष्टि से उन्हें देखती है कि सभी में एक ही आत्मा विद्यमान है। जो क्षणभंगुर है और जो शाश्वत है, विवेकबुद्धि इन दोनों के बीच सन्तुलन बनाए

रखती है; वह भेद भी देखती है और उस भेद में निहित ऐक्य को भी देखती है। इसके आधार हैं—गहन प्रज्ञान, बुद्धिमत्ता, व्यवहार कुशलता, सभी जीवों के प्रति सम्मान, विनम्रता और सीखने के लिए खुलापन। और इस विकसित समग्रतापूर्ण बोध से विवेकबुद्धि अपने निष्कर्ष निकालती है और निर्णय लेती है।

'ग़ैर आलोचनात्मक होने' का आधार है, विवेक; और जब हम चित्त में संचित संस्कारों को मिटा देते हैं तब हम विवेक को पोषित और सशक्त करते हैं।

अपने ग्रन्थ 'विवेकचूडामणि' में आदि शंकराचार्य जी कहते हैं :

> नाहं जीवः परं ब्रह्मेत्यतद्व्यावृत्तिपूर्वकम्।
> वासनावेगतः प्राप्तस्वाध्यासापनयं कुरु॥

> "मैं जीव नहीं, परब्रह्म हूँ।" "अनात्मा" का त्याग कर, स्वयं को उन वासनाओं से मुक्त कर दो जो पूर्वसंस्कारों के आवेग से उत्पन्न हुई हैं।[४]

जैसे-जैसे चित्त शुद्ध होता जाता है और स्फटिक की तरह आत्मा के प्रकाश को प्रतिबिम्बित करने लगता है; जैसे-जैसे 'आलोचना' कम होती जाती है और 'ग़ैर आलोचनात्मकता' अपना स्थान ग्रहण करने लगती है—अच्छाई और सद्‌गुणों से पूरित एक समूचे वातावरण का निर्माण होता जाता है।

'ग़ैर आलोचनात्मकता' के गुण में और क्या-क्या सम्मिलित है, यह जानने के लिए हम लेखिकाओं ने 'ग़ैर आलोचनात्मकता' के अंग्रेज़ी शब्द *nonjudgment* [नॉनजज्‌मॅन्ट] के कुछ समानार्थी शब्द देखे। उदाहरण के लिए, 'ग़ैर आलोचनात्मक होना' यानी 'पूर्वाग्रहों से रहित होना', 'सहिष्णु होना', 'उदार होना' या 'विचारों में खुलापन होना' और 'निष्पक्ष, तटस्थ होना'। जब हम इन शब्दों पर मनन करते हैं, तब एक गुण जो हमारे मन में उभरता है वह है, 'सम्मान'। किसी भी व्यक्ति या परिस्थिति के प्रति उदारहृदयी होने के लिए या उसके प्रति अपने विचारों में खुलापन रखने के लिए, उसके प्रति कोई पूर्वाग्रह न रखने के लिए, उसके बारे में पक्षपातरहित दृष्टिकोण रखने के लिए, बुनियादी तौर पर यह आवश्यक है कि आपके मन में उसके प्रति सम्मान हो। और यह सम्मान ऊपरी या सतही सम्मान नहीं है, एक झूठी, नक़ली मुस्कान या बनावटी मीठे-मीठे शब्द नहीं हैं जिन्हें आप किसी से यूँ ही कह देते हैं पर ख़ुद उन शब्दों का भाव महसूस नहीं करते। यह वह सम्मान है जिसकी जड़ें 'सम' के बोध में, इस अभिज्ञान में गहरी पैठ गई होती हैं कि आपके समक्ष जो कोई भी है या जो कुछ भी है, आप उनके

वास्तविक मूल्य को समझते हैं—चाहे वे जो कर रहे हों, वह आपको पसन्द हो या नहीं, चाहे आप उनके चुनावों से सहमत हों या नहीं।

हमें लगता है कि यह कहना ठीक होगा कि 'ग़ैर आलोचनात्मक होने' में जो सिद्धान्त निहित है, वह सभी संस्कृतियों में न सही, पर विश्व की अधिकतर संस्कृतियों के ताने-बाने में बुना हुआ है। यह स्पष्ट करने के लिए हम माँ का उदाहरण लिए बिना नहीं रह पा रहे हैं [विशेष रूप से इसलिए कि हम दोनों ख़ुद भी माँ हैं!]। हो सकता है कि एक आदर्श माँ जब यह देखे कि उसका बच्चा कुछ ऐसा कर रहा है जो उसे नहीं करना चाहिए तो उसे अपने बच्चे को वैसा करने से मना करना पड़े या उसके दुर्व्यवहार के लिए उसे समझाना पड़े, और जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होता जाता है, तब यदि माँ को उसके चुनाव या निर्णय ठीक नहीं लगते तो वह मृदुलता से अपने बच्चे को उस बारे में सचेत करती है। परन्तु वह कभी अपने बच्चे की 'आलोचना' नहीं करती [आलोचना शब्द के नकारात्मक अर्थ के अनुसार]। अपने बच्चे पर उसके भरोसे को, बच्चे को स्वीकार करने के उसके गुण को, बच्चे की अच्छाई और सामर्थ्य पर उसके विश्वास को, अपने बच्चे के प्रति उसके प्रेम को डिगाया नहीं जा सकता।

यह हमें 'ग़ैर आलोचनात्मक होने' के—और, विस्तृत रूप से देखें तो समानुभूति के—एक अन्य पहलू पर ले आता है। जब आप 'ग़ैर आलोचनात्मक होने' के भाव से किसी की ओर बढ़ते हैं तो यह बहुत ही स्वाभाविक रूप से आपके और उस व्यक्ति के बीच विश्वास को जगा देता है। इसके फलस्वरूप, वह विश्वास *उसके* अन्दर और भी अधिक आत्म-निश्चितता और आत्मविश्वास के भाव को बढ़ाता है।

ऐसा क्यों है? बात ऐसी है कि जब कोई यह पहचान लेता है कि आप उसे पूरे दिल से स्वीकार करते हैं, आप उसका साथ देना चाहते हैं; जब वह पहचान लेता है कि आपमें उसकी बात को सुनने की क्षमता है, उसकी बात सुनकर आप केवल उसकी मदद करना चाहते हैं और इसके अलावा आपका कोई अन्य उद्देश्य नहीं है, तो वह आपके सान्निध्य में सुरक्षित महसूस करने लगता है। वह खुलने लगता है। वह ख़ुद के साथ और अपने बारे में ईमानदार होने की हिम्मत जुटा पाता है। और जब वह महसूस करता है कि *आप* उसकी मानवता को देख रहे हैं, कि आप उसे एक अच्छे इंसान के रूप में पहचान रहे हैं, तब उसे *अपने अन्दर* उस अच्छे इंसान को पहचानना आसान हो जाता है। और इससे सम्भावनाओं का एक पूरा का पूरा जगत खुल जाता है : उसमें विश्वास आ जाता है—नई चीज़ों को आज़माने का या नए कौशल विकसित करने का, वह असीमित अपराधबोध से ग्रस्त हुए बिना अपनी ग़लतियों को पहचानने और उन्हें सुधारने में अधिक सक्षम हो जाता है, और जीवन के उतार-चढ़ावों का सामना करने के लिए और भी अधिक सुसज्जित हो जाता है।

इस मोड़ पर, हम आपको एक प्रसंग सुनाना चाहते हैं। हमें लगता है कि यह प्रसंग बड़ी सुन्दरता से दर्शाता है कि ‘ग़ैर आलोचनात्मक’ प्रतिक्रिया किस तरह एक व्यक्ति में आत्म-निश्चितता और आत्मविश्वास के भाव को जगा सकती है। यह प्रसंग गरिमा जी की ओर से है, इसलिए वे ही इसे सुनाएँगी।

वर्ष २००४ की गरमियों की बात है। मैं सेवा अर्पित करने श्री मुक्तानन्द आश्रम गई थी। मेरे साथ मेरी बेटी वनिता भी आई थी जिसकी आयु तब नौ वर्ष थी और वह चौथी कक्षा में पढ़ रही थी। एक दिन गुरुमाई जी के दर्शन के समय मैंने उन्हें उस घटना का वृतान्त सुनाया जो आश्रम आने से कुछ ही समय पूर्व वनिता और उसकी रचनात्मक-लेखनशिक्षिका के बीच हुआ था। वे उसकी मुख्य शिक्षिका के स्थान पर कुछ दिनों के लिए उसे पढ़ाने आई थीं।

वनिता ने क्रोध पर एक कविता लिखी थी जिसे वह अपने स्कूल के माध्यम से एक सुविख्यात पद्य प्रकाशन को भेजना चाहती थी। शिक्षिका ने वनिता की कविता पढ़ी और उसे समझाया कि उसने अपनी कविता में जिस अलंकारिक भाषा में तीव्र कल्पनाएँ अभिव्यक्त की हैं, उसे वह कुछ कोमल स्वरूप में व्यक्त करे, ऐसा करने के लिए उन शिक्षिका ने उसे सुझाव भी दिए। यहाँ तक कि उन्होंने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि वनिता उनके सुक्षाव को ध्यान में रखते हुए कविता को दोबारा लिखे।

वनिता को वे सुझाव ठीक नहीं लगे। इसलिए, अपने आत्मविश्वास को ठेस पहुँचने के बावजूद उसने कविता को जैसा लिखा था वैसा ही जमा कर दिया, इस बात की चिन्ता किए बिना कि वह प्रकाशित करने के लिए चुनी जाएगी या नहीं।

इस मर्मस्पर्शी वृत्तान्त को सुनने के बाद गुरुमाई जी ने मुझसे कहा कि मैं वनिता को उन सिद्धयोगियों से मिलने के लिए कहूँ जो प्रवीण कवि व लेखक हैं। इन सिद्धयोगियों ने काव्यकौशल का गहन अध्ययन किया था; उन्होंने स्वयं कविताएँ लिखी थीं और दूसरों को कविता व लेखनकला सिखाई थी। गुरुमाई जी ने कहा कि वे सब एक समूह बनाएँ और नियमित रूप से एकत्र होकर अपनी रचनात्मक कृतियों को एक-दूसरे के साथ साझा करें— “Poets’ Group” यानी “कवियों का समूह।”

गुरुमाई जी से मिले इस मार्गदर्शन के लिए हृदय में अपार कृतज्ञता से भरकर, वनिता और मैंने उन सिद्धयोगियों से सम्पर्क किया और उस मार्गदर्शन के बारे में बताया। हरेक व्यक्ति भाग लेने

के लिए अत्यन्त उत्साहित हो उठा। और इस समूह का गठन हो गया : कवियों के इस समूह ने तुरन्त मिलना शुरू कर दिया, वनिता अभी आश्रम में ही थी, और जब वह घर लौटी तो वे सब फ़ोन द्वारा मिलते रहे!

इन कुशल लेखकों ने उदारतापूर्वक अपना समय, ऊर्जा और अपना ध्यान वनिता को दिया। हालाँकि वह अभी एक छोटी बच्ची ही थी, उन्होंने उसे उस समूह के हरेक व्यक्ति के समकक्ष व महत्त्वपूर्ण सदस्या के रूप में स्वीकार किया, उसके प्रति अतीव सौम्यतापूर्वक व्यवहार किया और जीवन का अनुभव न होने के लिए एक बार भी उसके प्रति किसी भी प्रकार की आलोचना व्यक्त नहीं की। यह समूह एक-दूसरे की कृतियों पर चर्चा करता, उनकी समीक्षा करता और उन पर अपने सुझाव व अपनी राय देता, और समूह का हर व्यक्ति जो योगदान दे रहा है, उसके लिए सम्मान का भाव बनाए रखता।

वनिता और अन्य कवियों के बीच विश्वास पनपते देखना बहुत सुन्दर था; उसकी रचनाओं के प्रति उनकी रुचि और लगन साफ़-साफ़ नज़र आती। आश्चर्यचकित हो, मैं देखती कि मेरी नौ साल की बेटी में आत्मविश्वास और दृढ़ता किस तरह बढ़ रही है, उन वयस्क कवियों के स्नेह व प्रोत्साहन से, उसकी अपनी वाणी में छिपा उसका विश्वास कई गुना बढ़ रहा था। वह ऐसा समय था जिसने वनिता का और उसकी लेखन-प्रतिभा का कायापलट कर दिया।

इतने वर्षों में मैंने कई बार उस समय को याद किया है। उस समय, वनिता अपने बचपन की नाज़ुक उम्र से गुज़र रही थी और इसलिए वह सरलता से प्रभावित हो सकती थी, तथापि वह अपने आप में एक लेखिका, एक कवयित्री, एक स्वतन्त्र एवं रचनात्मक विचारक भी बनने लगी थी। उम्र में उससे बड़े व अधिक अनुभवी लोगों से उसे जो भी टिप्पणियाँ या सुझाव मिलते—सकारात्मक हों या नकारात्मक, उसके लिए सहायक हों अथवा नहीं—उनका वनिता पर प्रभाव पड़ना निश्चित था। गुरुमाई जी के संकल्प और परादृष्टि से गठित, कवियों के इस समूह के कारण, वनिता की यह धारणा नहीं बनी कि सारा संसार उसके ख़िलाफ़ है, या उसका लेखन बुरा है, या उसका कलात्मक स्फुरण ग़लत है। वह ख़ुद को कह पा रही थी, “वह बस एक व्यक्ति की राय ही तो है।” कविता के माध्यम से स्वयं को व्यक्त करने की उसकी अपनी अन्तर्जात प्रतिभा को उसने खो नहीं दिया था; संसार के बारे में अपने अनूठे दृष्टिकोण को व्यक्त करने की अपनी रुचि व अपनी अभिव्यक्ति के प्रति वचनबद्धता को उसने छोड़ नहीं दिया था।

> कहानी का अन्तिम भाग : वर्ष २००४ में जब हम श्री मुक्तानन्द आश्रम की अपनी यात्रा के बाद घर लौटे तब हमें पता चला कि वनिता की कविता न केवल प्रकाशित होने के लिए चुनी गई है, बल्कि उस संकलन में उसकी कविता को सर्वोत्कृष्ट श्रेणी में शामिल किया जाएगा! और आज वनिता व्यावसायिक तौर पर हॉलीवुड के सुविख्यात स्टुडिओ में पटकथा लेखक की भूमिका में कार्यरत है!

जब गरिमा जी ने यह कहानी अमी जी को सुनाई तो विश्वास और 'ग़ैर आलोचनात्मक होने' के बारे में, तथा एक व्यक्ति पर होने वाले इनके प्रभाव के बारे में हमने चर्चा की। हमें लगा कि यह कहानी कितनी स्पष्टता से यह बताती है कि गुरुमाई जी किस प्रकार सिखाती हैं—और गुरुमाई जी किस प्रकार सिखाती हैं कि हम सब कैसे व्यक्ति बनें। 'ग़ैर आलोचनात्मक होने' के लिए प्रयास करने की ज़रूरत है, जी हाँ बिलकुल। इसके लिए अनुशासन की आवश्यकता है। परन्तु इस प्रयास और अनुशासन का फल क्या होगा, एक व्यक्ति कौन है और वह क्या योगदान दे सकता है, इस बात के मूल्य को समझने के प्रयास का फल क्या होगा? जी हाँ, यह किसी चमत्कार से कम नहीं। यह किसी के जीवनपथ को आकार भी दे सकता है।

क्रमशः . . .

© २०२२ एस. वाय. डी. ए. फ़ाउन्डेशन®। सर्वाधिकार सुरक्षित।

---

[१] आदि शंकराचार्य, प्रबोधसुधाकर, श्लोक ११३; अंग्रेज़ी भाषान्तर © २०२२ एस. वाय. डी. ए. फ़ाउन्डेशन।

[२] गुरुमाई चिद्विलासानन्द, *The Yoga of Discipline* [साउथ फ़ॉल्सबर्ग, न्यूयॉर्क : एस. वाय. डी. ए. फ़ाउन्डेशन, १९९६], पृ ६५-६६।

[३] *The Yoga of Discipline,* पृ ७७।

[४] आदि शंकराचार्य, विवेकचूडामणि, श्लोक २८०; अंग्रेज़ी भाषान्तर © २०२२ एस. वाय. डी. ए. फ़ाउन्डेशन।